Vol XV No. 1&2

ISSN 2229 - 5844

December 2010 & July 2011

THE UP JOURNAL OF POLITICAL SCIENCE

Chief Editor
Dr Ashutosh Saxena

A bi-annual journal of
The UP Political Science Association
(Regn. No. 1556-1985-86)

CONTENTS

Sl.	Title of the Paper	Author	Page
1.	Corruption, The Greatest Impediment to Governance in India	Dr. Anurag Ratna	1-11
2.	Cultural Nationalism in India : A Critique to Multiculturalism	Dr. Ashutosh Saxena	12-26
3.	Regional Parties: Boon or Bane for Indian Politics	Dr. R.K.Tripathi & Sanjay Kumar Dwivedi	27-40
4.	Indian Federalism :*A few observations on the recent trends*	Dr. Deepshikha Chaturvedi	41-48
5.	Erosion of Democratic Traditions in Indian Political Parties	Dr. Pappi Mishra	49-56
6.	Economic Planning in India-the Nehru-Mahanalobis Model	Dr. Vinny Jain	57-69
7.	The BSP and the Paradoxes of Dalit Movement in UP	Shyam Singh	70-86
8.	Caste Politics in India: A Study of Caste Associations in Uttar Pradesh	Dr. Ashwani Kumar Dubey	87-103
9.	Rashtrya Hito ko Poshit Karte Shetrya Dal	Dr. Anubha Kumar	104-109
10.	The Evolution of Good Governance: Role of Judiciary	Dr. Sunil Khosla	110-117
11.	Sarvochch Nyayalya : Atit ka Mulyankan Bhavishya ka Anklan	Dr. Jai Kumar Mishra	118-127
12.	Problems in Governance: A Critical Appraisal	Dr. Mohd. Nafees A. Ansari	128-138
13.	Gender Gap in Indian Politics	Vibha Tiwari	139-149

सर्वोच्च न्यायालयः अतीत का मूल्यांकन एवं भविष्य का आंकलन

डॉ. जय कुमार मिश्र

यदि हम स्वतन्त्रता के बाद सर्वोच्च न्यायालय की ऐतिहासिक भूमिका का मूल्यांकन करें तो ज्ञात होगा कि उसकी भूमिका संविधान के 'संरक्षक' के रूप में निरन्तर परिवर्तनषील होते हुए भी 'प्रवाहमान' बनी रही है, जिसने भारतीय गणतन्त्र को समय-समय पर प्राणवायु प्रदान की है। षंकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1951 ई0) से लेकर मेनका गाँधी वाद (1980 ई0) तक के विभिन्न वादों का विष्लेशण करने पर ज्ञात होगा कि सर्वोच्च न्यायालय ने 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' से प्रारम्भ करके 'विधि की उचित प्रक्रिया' तक की विकास यात्रा सम्पन्न की है। 1980 ई0 के बाद जनहित याचिकाओं ने सर्वोच्च न्यायालय के इतिहास में एक नए अध्याय का सूत्रपात किया, यहाँ आकर न्यायालय ने जनता की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं से स्वयं को इस प्रकार जोड़ लिया कि वह भी लोककल्याणकारी राज्य के उपांग के रूप में परिवर्तित हो गया। सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक-लोकतान्त्रिक-संवैधानिक सरोकारों से जुड़ जाने के कारण 2000 ई0 के बाद हम न्यायपालिका को विभिन्न मुद्दों पर सरकार से पहल करने का आग्रह करते या आदेष देते हुए पाते हैं, 86वाँ और 91वाँ संविधान संषोधन इसके जीवन्त प्रमाण हैं। वस्तुतः 21वीं सदी तक आते-आते न्यायालय ने यह मान/समझ लिया कि वर्तमान राजनीतिक वातावरण में न्यायाधीषों का कार्य 'ज्यूडिषियल मजिस्ट्रेट' की भाँति है, फलतः उन्हें जनता की आकांक्षाओं, समाज की आवष्यकताओं और समय की गति एवं दिषा को ध्यान में रखना होगा। न्यायपालिका की भूमिका 21वीं सदी में और भी विस्तृत होती जा रही है। 'राज्य' की औद्योगिक नीति को वैष्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए नागरिकों के सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को संविधान की भावना के अनुरूप प्रतिश्ठित करना और 'सुषासन' की स्थापना करना न्यायपालिका के नए भावी दायित्व हैं, साथ ही पर्यावरण प्रदूशण के कारण होने वाली मानवीय क्षति की भरपाई करते हुए सतत् मानवीय विकास का दायित्व भी न्यायपालिका पर आ गया है। आधुनिक प्रौद्योगिकी (इण्टरनेट आदि) का प्रयोग करके जनता को त्वरित एवं निश्पक्ष न्याय देने की प्रतिबद्धता और अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं (न्यायपालिका में व्याप्त भ्रश्टाचार आदि) का समूल उन्मूलन भविश्य में न्यायपालिका से अपेक्षित है।

भारतीय संविधान सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक और संवैधानिक परिवर्तनों का एक सशक्त प्रमाणपत्र है, इस परिवर्तन को गति एवं स्थिरता देने हेतु 'राज्य' के तीनों अंगों को संविधान द्वारा कतिपय अधिकार एवं दायित्व दिए गए हैं जिनका निश्पादन निर्धारित सीमाओं के भीतर सम्पन्न करके इन अंगों द्वारा 'राज्य' नामक संस्था को प्रासंगिक बनाए रखना है। व्यवस्थापिका द्वारा कानूनों का निर्माण करके, कार्यपालिका द्वारा इन कानूनों को लागू करके तथा न्यायपालिका द्वारा कानूनों के आधार पर न्याय करके अपने दायित्वों को पूरा करना है लेकिन यदि संविधान के उपबन्धों पर ध्यान केन्द्रित किया जाय तथा साथ ही संविधान-निर्मात्री सभा में हुए वाद-विवाद का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि न्यायपालिका को संविधान निर्माता केवल न्याय करने वाली संस्था से आगे बढ़कर उसे भारतीय संवैधानिक व्यवस्था के संरक्षक के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं (देखें अनु- 13, 32, 137 आदि)। लोकतंत्र का प्राण होता है 'कानून का शासन' और यदि व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका, कानूनों के निर्माण तथा क्रियान्वयन का दायित्व ठीक ढंग से न निभाए तो न्यायपालिका उसे 'सद्पथ'

*अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, राजा हरपाल सिंह पी.जी.कालेज, सिंगरामऊ जौनपुर (यू.पी.)

पर लाने के लिए वचनबद्ध है क्योंकि वह संविधान की संरक्षक है। इसी गुरुतर दायित्व के निष्पादन में भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक विधायी और संवैधानिक अधिकार प्राप्त कर लिए हैं। इन अधिकारों का प्रयोग करके सर्वोच्च न्यायालय ने समय–समय पर संविधान की रक्षा की है। सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा दिए गए निर्णयों ने उसकी भूमिका को निरंतर परिवर्तनशील बनाये रखा है। यदि हम स्वतंत्रता के बाद सर्वोच्च न्यायालय की ऐतिहासिक भूमिकाओं का मूल्यांकन करें तो ज्ञात होगा कि इस परिवर्तन में एक 'निरंतर प्रवाह' बना रहा है जिसने भारतीय लोकतंत्र एवं गणतंत्र को समय–समय पर प्राणवायु प्रदान की है।

प्रथम संविधान संशोधन की वैधता को शंकरी प्रसाद सिंह देव बनाम भारत संघ और बिहार राज्य[1] के वाद (1951 ई.) में तथा 17वें संविधान संशोधन की वैधता को सज्जन सिंह बनाम राजस्थान राज्य[2] (1965 ई.) के वाद में जब चुनौती दी गयी तो दोनों ही बार सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान में वर्णित नागरिकों के मूलाधिकारों में संशोधन करने का अधिकार है लेकिन जब सर्वोच्च न्यायालय ने देखा कि बहुमत प्राप्त सरकार द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों में तीव्र गति से संशोधन करके नागरिक अधिकारों तथा स्वतन्त्रता में निरन्तर कटौती कर अपनी शक्ति एवं क्षमता को अनायास बढ़ाया जा रहा है तो सर्वोच्च न्यायालय ने गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य[3] के वाद (1967 ई.) में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की संविधान संशोधन क्षमता पर नियंत्रण लगाते हुए कहा कि नागरिकों के मूलाधिकार छीने नहीं जा सकते। व्यवस्थापिका (संसद) और कार्यपालिका (तत्कालीन इन्दिरा गाँधी सरकार) ने न्यायपालिका के इस निर्णय के प्रति प्रतिक्रियावादी स्वरूप धारण कर लिया और बहुमत का लाभ (अनुचित) उठाते हुए 24वें संविधान संशोधन द्वारा गोलकनाथ वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को बदल दिया। 25वें और 26वें संविधान संशोधन के माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए उन निर्णयों को बदल दिया गया जिसमें उसने बैंकों के राष्ट्रीयकरण को अवैध घोषित कर दिया था तथा भूतपूर्व देशी राजाओं को मिल रहे प्रीवीपर्स को पुनः प्रारम्भ करने का आदेश दिया था। 29वें संविधान संशोधन द्वारा सर्वोच्च न्यायालय की इच्छा के विरुद्ध केरल भूमि सुधार अधिनियम को 9वीं अनुसूची में जोड़ दिया गया। यही वह समय है जब सर्वोच्च न्यायालय ने कानून का शासन स्थापित करने के लिए और संविधान एवं लोकतंत्र की प्रतिष्ठा को बचाने के लिए एक सक्रिय भूमिका निभाना शुरू किया। आगे चलकर 1973 ई. में सर्वोच्च न्यायालय ने राजनीतिक परिस्थितियों में हुए परिवर्तन को देखते हुए केशवानन्द भारती वाद[4] में यह निर्णय दिया कि संसद को संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने का अधिकार तो है लेकिन वह संविधान की मौलिक संरचना या आधारभूत ढाँचों को संशोधित नहीं कर सकती। संसद की संविधान संशोधन क्षमता पर नियंत्रण का यह एक सामयिक कदम था, जिसके सहारे सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की सुरक्षा के लिए एक कवच तैयार कर दिया। 1975 से 1977 ई. तक जो आपातकाल लगा वह भारत के संवैधानिक इतिहास में एक ऐसे अध्याय के रूप में जुड़ता है जिसे लोकतांत्रिक मूल्यों के ऊपर गंभीर संकट के रूप में देखा जा सकता है। तत्कालीन सरकारी तंत्र ने आम नागरिक की स्वतंत्रता एवं संवैधानिक अधिकारों, यहाँ तक कि जीवन की सुरक्षा के अधिकार की प्रासंगिकता एवं उपयोगिता को भी नष्ट कर दिया और संसद में प्राप्त बहुमत का स्वेच्छाचारी ढंग से प्रयोग किया। इसी बीच संविधान में सबसे व्यापक परिवर्तन 42वें संविधान संशोधन के द्वारा कर दिया गया। सर्वोच्च न्यायालय इन सभी स्थितियों को बहुत बारीक दृष्टि से देख और समझ रहा था। इसी कारण मेनका गाँधी वाद[5] (1978 ई.) में उसने एक दूरगामी निर्णय

दिया। इस वाद में माननीय न्यायाधीशों ने कहा कि किसी अनुच्छेद में स्पष्ट रूप से लिखा हुआ न रहने पर भी कोई अधिकार मूल अधिकार हो सकता है यदि वह किसी अन्य मूल अधिकार से आवश्यक एवं अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है, जैसे– अनु.21 जीवन का अधिकार प्रदान करता है, जीवन के इस अधिकार में विदेश भ्रमण, निःशुल्क विधिक सहायता, कैदियों की शीघ्र सुनवाई, मानव गरिमा के साथ जीवन जीने का अधिकार, एकान्तता का अधिकार, आश्रय का अधिकार, निजता का अधिकार आदि शामिल किए जा सकते हैं, क्योंकि इन सबके अभाव में जीवन का अधिकार अपनी प्रासंगिकता खो देगा। इस वाद में न्यायालय ने यह भी कहा कि किसी भी व्यक्ति को उसकी शारीरिक स्वतंत्रता एवं जीवन के अधिकार से वंचित करने के लिए 'कानून की उचित प्रक्रिया' का होना आवश्यक है, साथ ही 'उचित प्रक्रिया' के सिद्धान्तों में 'प्राकृतिक न्याय' के तत्वों का आवश्यक समावेश होना चाहिए, अन्यथा प्रक्रिया के औचित्य पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाएगा। भारत का संविधान कहीं भी प्राकृतिक कानून या प्राकृतिक न्याय जैसे शब्दों को स्थान नहीं देता, क्योंकि यह 'विधि की उचित प्रक्रिया' (जैसा कि अमेरिका में है) के सिद्धान्त के अनुकूल होता है, 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होता (जैसा कि भारत में है), तथापि मेनका गाँधी वाद में न्यायाधीशों ने कहा कि, जीवन के अधिकार का आधार प्राकृतिक कानून (अर्थात् विवेक) अवश्य होना चाहिए।

सर्वोच्च न्यायालय के विचारों में यह एक परिवर्तन बिन्दु का द्योतक है, जहाँ न्यायपालिका ने आकर यह अनुभव कर लिया कि 'कानून के शासन' को केवल कार्यपालिका के सहारे नहीं छोड़ा जा सकता, वरन उसे भी कानून का शासन स्थापित करने के लिए 'विधि की उचित प्रक्रिया' का आश्रय लेना पड़ेगा। न्यायपालिका की प्रवृत्ति में आया यह एक ऐसा परिवर्तन है, जिसकी उपयोगिता एवं प्रासंगिकता को तत्कालीन आपातकाल के कारण संवैधानिक एवं लोकतांत्रिक मूल्यों पर उत्पन्न हुए खतरे / संकट के परिप्रेक्ष्य में अच्छी प्रकार से देखा–समझा जा सकता है। एम.सी. शीतलवाड़ ने गोलकनाथ वाद (1967 ई.) में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिए गए निर्णय को 'भय के तर्क पर आधारित निर्णय' कहा था, लेकिन यदि इस दृष्टिकोंण से विचार किया जाय तो मेनका गाँधी वाद (1978 ई.) के निर्णय को जनता के मन में आपातकाल के कारण छाए भय को दूर करने वाले निर्णय के रूप में देखा जा सकता है। आपातकाल में जिस प्रकार शासन द्वारा 'प्रायोजित कुशासन' (कानून का शासन न होकर व्यक्ति विशेष का शासन) किया गया और जनता की जिस प्रकार से 'शॉक थिरैपी' की गयी, उसे देखते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने यह समझ लिया कि केवल 'कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया', 'कानून के शासन' का आधार नहीं हो सकती, वरन् कानून को भी लोकतांत्रिक मूल्यों एवं संवैधानिक प्रावधानों के अनुकूल होना चाहिए। न्यायपालिका ने यह भी समझ लिया कि, यदि इस बात को मान्यता दी जाती है कि 'विधि या कानून' वही है जो संसद में बहुमत प्राप्त दल बनाता है तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बहुमत सदैव न्यायपूर्ण नहीं होता, कभी–कभी उसके निर्णय स्वार्थ और तात्कालिक लाभ से भी प्रेरित होते हैं। यदि विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के नाम पर मनमाने निर्णय लिए जाएंगे (संविधान के 39, 40 और 42वें संविधान संशोधन इसके प्रमाण हैं) तो संसद की गरिमा धूल–धूसरित हो जाएगी और साथ ही लोकतंत्र अपनी प्रासंगिकता खो देगा। उन्हीं स्थितियों से समाज एवं देश को बचाने हेतु सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी उस भूमिका को त्याग दिया जिसमें उसने (1950–1967 ई. तक) 'विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया' का दृढ़ता से पालन किया था। 1967 ई. के बाद सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका संविधान के रक्षार्थ एक सक्रिय और रचनात्मक हस्तक्षेप करने वाले संगठन की हो गयी और यह कालावधि 1967 ई. से 1978 ई. तक माना जा सकता है। 1978 ई. में मेनका गाँधी वाद का निर्णय

न्यायपालिका की एक नवीन भूमिका का द्योतक बनता है जिसे स्पष्ट रूप से 'विधि की उचित प्रक्रिया' की ओर पदार्पण कहा जा सकता है, यह स्वरूप जनहित याचिकाओं के आरम्भ से और भी व्यापक होता गया है। जनहित याचिकाओं ने सर्वोच्च न्यायालय को एक मानवीय स्वरूप में स्थापित कर दिया। वे लोग जो पीड़ित और उपेक्षित थे, जिनकी सुनवाई कहीं नहीं होती थी, क्योंकि वे इस लोकतांत्रिक व्यवस्था में बहुमत में नहीं थे, उनके लिए न्यायालय ने अपने दरवाजे खोल दिए तथा उन्हें अन्याय एवं पीड़ा से बचाने के लिए अनेक कदम उठाए, जिससे इन लोगों को प्रथम बार 'लोकतंत्र में न्यायिक शक्ति' का दर्शन हुआ। न्यायपालिका ने जनहित याचिकाओं के द्वारा जो निर्णय दिए उनमें से प्रमुख हैं– जेल में कैदियों के रहन–सहन में सुधार करना, महिला कैदियों को पृथक कारावास में रखना, महिला कैदियों के बच्चों की देखभाल करना, जेलों में लम्बे समय से बन्द विचाराधीन कैदियों की रिहाई करना, बाल श्रम का निषेध, भूमिहीन मजदूरों की सहायता करना, महिला श्रमिकों को पुरुष श्रमिकों के बराबर मजदूरी देना, प्रदूषण की रोकथाम और बेहतर पर्यावरण के निर्माण का निर्देश आदि। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह 'न्याय' करने का गैर परम्परागत एवं अभिनव तरीका था। सर्वोच्च न्यायालय ने यहाँ तक कहा कि यदि कोई व्यक्ति जो गंभीर रूप से परिस्थितियों से कुप्रभावित होने के कारण अपने शोषण एवं अन्याय के विरुद्ध न्यायालय में नहीं जा पा रहा है तो उसकी ओर से समाज का कोई भी प्रबुद्ध व्यक्ति या समूह यदि सर्वोच्च न्यायालय तक पत्र भेजकर उस पीड़ित व्यक्ति की बात पहुँचाता है तो वह उसकी सुनवाई करके निर्णय देगा। यह एक ऐसी स्थिति थी जिसके बारे में 1979 ई. के पूर्व कभी सोचा ही नहीं गया था, तथापि इसकी आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। परिवर्तित दशाओं में सर्वोच्च न्यायालय ने कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों की क्षमताओं का अनुमान करके स्वयं यह नयी भूमिका ग्रहण कर ली। वस्तुतः संविधान में जिस लोकतांत्रिक एवं लोककल्याणकारी राज्य की संकल्पना व्यक्त की गई है उसकी प्रतिबद्धता से न्यायपालिका ने स्वयं को पूरी तरह से सम्बद्ध कर लिया और वह जनहित याचिकाओं के माध्यम से लोककल्याण का नवीन अध्याय प्रारम्भ कर चुकी है। वे लोग जो अब तक व्यवस्था की परिधि पर थे, वे केन्द्र की ओर उन्मुख हो चले हैं और 'राज्य' उनके लिए भी कुछ करने के लिए तैयार है। व्यवस्था में सहभागी बनने तथा व्यवस्था को उत्तरदायी बनाने के लिए न्यायपालिका द्वारा किए गए कार्यों से उसके प्रति जन आस्था निरन्तर बढ़ रही है।

2000 ई. के बाद भारत के सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका में एक नए प्रकार का परिवर्तन देखने को मिलता है। कहा जाता है कि न्यायाधीश की दृष्टि सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों के प्रति उतनी चैतन्य नहीं होती, जितनी कि जनप्रतिनिधियों की, इसलिए ऐसी समस्याएं जिसमें तात्कालिक परिवर्तन की अपेक्षा है, उन्हें न्यायपालिका के माध्यम से नहीं सुलझाया जा सकता। किन्तु जनहित याचिकाओं के कारण के कारण पहले तो न्यायपालिका ने स्वयं को सामाजिक–आर्थिक समस्याओं एवं सरोकारों से जोड़ा और फिर जनता के लिए अपरिहार्य मुद्दों के प्रति वह उतनी ही संवेदनशील हो गई जितनी कि किसी लोकतांत्रिक देश में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका होती हैं। सामाजिक–आर्थिक–राजनीतिक–लोकतांत्रिक–संवैधानिक सरोकारों से जुड़ जाने के कारण 2000 ई. के बाद हम न्यायपालिका को विभिन्न मुद्दों पर सरकार से पहल करने का आग्रह करते या आदेश देते हुए पाते हैं। सरकार से मद्रास हाइड्रो प्रोजेक्ट बनाम जम्मू कश्मीर', मोहिनी जैन बनाम कर्नाटक राज्य' तथा उन्नीकृष्णन बनाम आन्ध्र प्रदेश (यद्यपि ये सभी मुकदमें 2000 ई. के पूर्व के हैं, लेकिन इनके निर्णयों का क्रियान्वयन 2000 ई. के बाद हुआ है) के वादों में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का सार यही

है कि सरकार उन सामाजिक–आर्थिक दशाओं को दूर करे जिनके कारण बच्चे स्कूल पढ़ने नहीं जा पा रहे हैं। यदि बच्चे आर्थिक अभाव के कारण पेन, पेंसिल, कापी, किताब आदि नहीं खरीद पा रहे हैं तो सरकार का दायित्व है कि वह बच्चों को ये सब सामग्री निःशुल्क दे, शिक्षा न केवल सामाजिक–आर्थिक न्याय की प्राप्ति का एक साधन है, वरन यह जीवन के अधिकार का एक आवश्यक पूरक अंग भी है। इन उपरोक्त निर्णयों के प्रकाश में ही 86वां संविधान संशोधन विधेयक (2002 ई.) प्रस्तुत कर संविधान के अनु.21 में 'ए' नामक नया अनुच्छेद जोड़कर यह व्यवस्था दी गयी कि, "6 से 14 वर्ष तक के बच्चों को अनिवार्य एवं निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करना उनका मूलाधिकार होगा।" सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों में इस बात की आवश्यकता बतायी कि जोड़–तोड़ द्वारा सरकार बनाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है, इससे सरकारें अस्थिर होती हैं और वे उत्तम ढंग से कार्य नहीं कर पातीं। यदि मंत्रिमण्डल की सदस्य संख्या सीमित व निश्चित हो तो इससे दल बदल तथा राजनीतिक सौदेबाजी रोकने में मदद मिलेगी, इसे ध्यान में रखकर ही संविधान में 91वाँ संशोधन किया गया जिसके अनुसार केन्द्र व राज्यों में प्रधानमंत्री/मुख्यमंत्री सहित मंत्रियों की कुल संख्या निचले सदन में सदस्यों की कुल संख्या का 15 प्रतिशत से अधिक नहीं होनी चाहिए। छोटे राज्यों में जहाँ विधायकों की संख्या कम है, मंत्रियों की अधिकतम संख्या 12 होगी। यह कानून जम्मू–कश्मीर में लागू नहीं होगा। दिल्ली के मामले में विधानसभा सदस्यों की संख्या 70 होने के बावजूद राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली अधिनियम, 1993 के तहत मंत्रियों की अधिकतम संख्या 7 ही हो सकती है। यूनियन ऑफ इण्डिया बनाम एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म (2002) तथा पीपुल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज बनाम भारत संघ (2003) के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने जो निर्णय दिया उसके अनुरूप ही जनप्रतिनिधित्व अधिनियम (1951 ई.) में संशोधन करके यह अनिवार्य कर दिया गया कि चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों को अपने आपराधिक रिकार्ड समेत अपने एवं परिवार की चल–अचल सम्पत्ति, बकायों, शैक्षिक योग्यता आदि के बारे में पूरी जानकारी देनी होगी।

एस.पी. गुप्ता बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया (1982 ई.) और बाम्बे इन्वायरमेंटल ऐक्शन ग्रुप और अन्य बनाम पुणे कैन्टोनमेन्ट बोर्ड आदि के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने स्वीकार किया कि सूचना का अधिकार संविधान के अनु. 19(1) क में वर्णित विचार–अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता में समाहित है। यदि व्यक्ति को सही व कारगर सूचना नहीं मिलेगी तो वह अपने विचारों को एक सुनिश्चित एवं मनोवांछित आकार–प्रकार में अभिव्यक्त नहीं कर पाएगा। अन्ततः एक लम्बी बहस के बाद केन्द्र सरकार ने सूचना का अधिकार विधेयक, 2005 ई. संसद में प्रस्तावित एवं पारित कराया। पी.यू.सी.एल. बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया और अन्य के वाद (2007 ई.) में तथा कुछ अन्य मुकदमों में सर्वोच्च न्यायालय ने लगभग 60 से अधिक बार सरकार को आदेश दिया कि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन उपलब्ध कराना उसका दायित्व है, क्योंकि यह जीवन के अधिकार से सम्बद्ध है, बिना भूख मिटाए जीवन के अधिकार का प्रयोग नहीं किया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी कहा है कि मानवाधिकारों के वैश्विक घोषणापत्र (1948 ई.) की धारा 25 के अनुसार जनता को भोजन उपलब्ध कराना सरकारों का परम दायित्व है, भारत ने इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किया है अतः वह इससे बँधा हुआ है। सरकार ने इस दायित्व की पूर्ति का प्रयास करते हुए ही मिड डे मील योजना शुरू की है तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीबों को सस्ती दर पर अनाज बाँटने की व्यवस्था की है। स्वास्थ्य, आवास, रोजगार, प्रदूशण आदि पर बनने वाले विभिन्न कानूनों के पीछे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के अनुपालन का ही दबाव है।

वस्तुतः न्यायाधीशों का कार्य 'ज्यूडिशियल स्टेट्समैन' की भाँति होता है, उन्हें जनता की आकांक्षाओं, समाज की आवश्यकताओं और समय की गति एवं दिशा को ध्यान में रखना होता है। ऐसा करते समय वे संविधान में मौन रूप से अभिव्यक्त स्वतंत्रता एवं अधिकारों को व्यापक बनाते हैं। उपेन्द्र बक्शी ने ऐसे ही कुछ क्षेत्रों का उल्लेख किया है जहाँ कोई न्यायाधीश संवैधानिक मूल्यों को संरक्षित करने के लिए एक नौकरशाह की भाँति आदेश–निर्देश जारी कर सकता है।[8] 30 अगस्त, 2010 को सर्वोच्च न्यायालय ने इसी प्रकार का आदेश जारी करते हुए कहा कि, गत 12 अगस्त, 2010 को उसके द्वारा दिए गए निर्णय को सलाह न समझा जाय, यह आदेश है कि केन्द्र सरकार को फूड कॉरपोरेशन ऑफ इण्डिया के गोदामों में खाद्यान्नों को सड़ने से बचाने के लिए इसे गरीबों को मुफ्त बाँट देना चाहिए, उसे अपने निर्णय को कठोर शब्दों में 'आदेश' इसलिए बताना पड़ा क्योंकि खाद्य मंत्री शरद पवार इस निर्णय को 'सलाह' मानकर लागू करने में असमर्थता व्यक्त कर रहे थे।[9] वास्तव में, यदि कार्यपालिका जनकल्याण के लक्ष्यों को सामान्य प्रशासकीय प्रक्रिया द्वारा प्राप्त करने में अक्षम या असमर्थ रहती है तो न्यायपालिका जनकल्याण के मुद्दों को अपना लक्ष्य मानकर उसकी प्राप्ति का सार्थक एवं सक्रिय प्रयास कर सकती है। संविधान के प्रावधानों की प्रगतिशील व्याख्या करने और संविधान के संरक्षक का दायित्व निभाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने इस नयी भूमिका को स्वीकार किया है।

सर्वोच्च न्यायालय ने समय–समय पर अपनी परिवर्तित और प्रशंसनीय भूमिकाओं से सामान्य भारतीय नागरिकों के मन में नयी आशा का संचार किया है। एक ऐसे समय में जब बी.बी.सी. वर्ल्ड सर्विस के सर्वेक्षण में भारतीय लोकतंत्र को विश्व के लोकतंत्रों की श्रेणी में 'फ्लॉड डेमोक्रेसी' (धब्बा लगा लोकतंत्र) कहा जा रहा हो, जब अपराधी, गंदे राजनीतिज्ञ, भ्रष्ट नौकरशाह और पथभ्रष्ट व्यवसायी एक प्रकार से 'चांडाल चौकड़ी' बनाकर लोकतंत्र और संविधान की गरिमा नष्ट कर रहे हों, लोक और तंत्र के बीच एक बड़ा अन्तराल (गैप) हो गया हो, जिससे लोकतंत्र अपना अर्थ खोता जा रहा हो, तो संविधान के संरक्षण की भूमिका निभाने हेतु न्यायपालिका को सामने आना ही पड़ेगा, 21वीं सदी में न्यायपालिका को इस अभिनव दायित्व को निभाकर अपनी उपादेयता सिद्ध करनी पड़ेगी।

21वीं सदी में भारतीय लोकतंत्र और संवैधानिक व्यवस्था के समक्ष सबसे बड़ा खतरा 'राजनीतिक विश्वसनीयता का अभाव' (अर्थात् कोउ नृप होए हमे का हानी..........) है। राजनीति में गैर राजनीतिक मानसिकता एवं चरित्र के लोगों का प्रवेश हमारे लोकतंत्र के लिए चुनौती है, ऐसे लोग जिनकी मानसिकता ही लोकतांत्रिक नहीं है, जो अपनी प्रवृत्ति में ही अपराधी (अलोकतांत्रिक) हैं, भारी संख्या में विधायिकाओं (विधानसभाओं, विधानपरिषदों, लोकसभा एवं राज्यसभा) में प्रवेश कर रहे हैं, फलतः सदन में मारपीट और असंसदीय आचरण बढ़ता जा रहा है (वर्तमान लोकसभा के 150 सांसदों के उपर आपराधिक मुकदमें दर्ज हैं, और उनमें से 72 का गम्भीर आपराधिक रिकार्ड है)[10] ऐसे जनप्रतिनिधि सदन में प्रश्न पूछने में भी विशेष रुचि नहीं लेते हैं। लोकतंत्र में जनता का विश्वास बना रहे, इसके लिए सर्वोच्च न्यायालय ने चुनाव सुधार से सम्बन्धित अनेक निर्णय दिए हैं, जिनका सकारात्मक परिणाम भी सामने आया है लेकिन अभी भी बहुत कुछ करना बाकी है। जनता की राजनीतिक चेतना निरन्तर बढ़ रही है और उसने अपने संकीर्ण स्वार्थों को पूरा करने हेतु राजनीति का प्रयोग/उपयोग करना प्रारम्भ कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि जनता की प्रकृति एवं प्रवृत्ति में अनेक अलोकतांत्रिक तत्व भी बढ़ रहे हैं जैसे जातिवाद, भाषावाद, साम्प्रदायिकता, क्षेत्रवाद आदि। यदि इन अलोकतांत्रिक तत्वों की सफाई कर जनता की राजनीतिक चेतना को राष्ट्रीय हित के सरोकारों से सम्पृक्त करने में

न्यायपालिका कोई योगदान कर सके तो यह हमारे लोकतंत्र के लिए नयी संजीवनी सिद्ध होगी।

वर्तमान परिवेश में सुशासन (गुड गवर्नेंस) केवल कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका का ही दायित्व नहीं है, इस दिशा में न्यायपालिका से भी बड़ी अपेक्षाएं हैं। कार्यपालिका में काम कर रहे अस्थायी (राजनीतिज्ञ) तथा स्थायी (नौकरशाह) व्यक्तियों का उत्तरदायित्व गंभीरता के साथ सुनिश्चित किया जाय, नीति निर्माण तथा निर्णयों के क्रियान्वयन में पारदार्शिता लायी जाय, भ्रष्टाचार का समूलोन्मूलन कर योजनाओं का सफल क्रियान्वयन किया जाय, प्रभावशाली, कार्यकुशल एवं सच्चे अर्थों में लोककल्याणकारी लोकतंत्र का निर्माण हो, तर्कशील एवं जागरुक नागरिक चरित्र का निर्माण हो जो समाज की भावी आवश्यकताओं के प्रति चैतन्य हो–यह सब प्रयास भी 'राज्य' के एक अंग के रूप में न्यायपालिका को करना चाहिए। इस दिशा में सफलता प्राप्त करने के लिए न्यायपालिका को अनेक संस्थाओं से सहायता मिल सकती है जैसे– मुख्य सतर्कता आयुक्त, मुख्य सूचना आयुक्त, अम्बुडसमैन आदि। जनहित याचिकाओं के त्वरित समाधान हेतु भी न्यायपालिका को पृथक से संस्था सृजित करने का समय आ गया है क्योंकि इनकी संख्या निरन्तर बढ़ रही है। जन चेतना के प्रवाह को सार्थक दिशा देने का कार्य न्यायपालिका को अपने कन्धों पर लेना ही होगा।

हाल के वर्षों में भारत ने अपनी उर्जा आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक बाँध परियोजनाओं का निर्माण किया है तथा साथ ही नई व्यापार नीति ने औद्योगीकरण की गति को काफी तेज कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत सारे लोगों को अपने घरों से बेदखल होना पड़ा है और इन बेदखलों को अपने ही देश में 'न्याय' प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनाई हो रही है। अकेले उत्तर प्रदेश में भविष्य में आकार लेने वाली यमुना एक्सप्रेस वे तथा अन्य औद्योगिक परियोजनाओं के लिए कृषि योग्य जमीन का जो क्षेत्रफल अधिग्रहित किया जाएगा उसके कारण 140 लाख टन खाद्यान्न का उत्पादन कम हो जाएगा इसलिए किसान अपनी जमीन नहीं दे रहे हैं। अपनी जमीन से बेघर हुए लोगों के पुनर्वास, शिक्षा, रोजगार, जीवन की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति तथा उनकी वर्तमान एवं भावी पीढ़ी के अधिकारों का संरक्षण भारत में न्यायपालिका के नए दायित्व हैं। 'राज्य' की औद्योगिक नीति को वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में देखते हुए नागरिकों के सामाजिक–आर्थिक अधिकारों को संविधान की भावना के अनुरूप प्रतिष्ठित करना न्यायपालिका का नया दायित्व है। आज न्यायपालिका पर्यावरण प्रदूशण के कारण होने वाली मानवीय क्षति की भरपायी नहीं कर पा रही है, इस दिशा में कार्य करना शेष है। सतत मानवीय विकास का दायित्व भी न्यायपालिका का है। इस दिशा में काम करने के लिए न्यायपालिका को परम्परा, परिवर्तन और प्रगति में संतुलन बनाए रखने की आवश्यकता है।

इन अभिनव दायित्वों की पूर्ति के साथ ही साथ न्यायपालिका को अपनी 'संस्था' को भी समय के साथ परिवर्तन के लिए तैयार करना होगा। पिछले कुछ समय से न्यायपालिका के निर्णयों तथा कार्य करने के पद्धति और न्याय करने में विलंब जैसे अनेक मुद्दे सामने आए हैं। दिल्ली हाईकोर्ट के इस निर्णय पर कि सरकार होमोसेक्सुएलिटी को मान्यता दे अथवा उसी न्यायालय का यह कहना कि दो नाबालिगों के बीच विवाह वैध है, जब तक कि उन दोनों में से कोई भी विवाह की वैधता को लेकर शिकायत न करे, तथा वयस्क (लड़के की आयु 21 वर्ष और लड़की की आयु 18 वर्ष) होने के पूर्व भी विवाह गैर कानूनी नहीं है" मानव सभ्यता एवं भारतीय संस्कृति के सन्दर्भ में असहज समझकर टिप्पणियां की गयीं। कलकत्ता हाईकोर्ट के न्यायाधीश सौमित्र सेन के विरुद्ध 2008 ई. से और कर्नाटक हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीश पी.डी. दिनकरन के विरुद्ध महाभियोग की कार्यवाही 2009 ई. से ही लम्बित है, इन मामलों

में अब तक कोई ठोस प्रगति नहीं हो सकी है, ऐसी दशाएं अनेक सन्देहों को जन्म दे रही हैं। 2009–10 ई. में ही भारत के पूर्व मुख्य न्यायाधीश बालाकृष्णन न्यायाधीशों द्वारा सम्पत्ति की घोषणा करने के विरुद्ध दिखे तथा साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि न्यायाधीशों को सूचना के अधिकार के अन्तर्गत नहीं लाया जाना चाहिए, जबकि सूचना का अधिकार कानून, 2005 की धारा 2स के अनुसार, सभी संवैधानिक पदों को धारण करने वाले लोग सूचना के अधिकार अधिनियम के अन्तर्गत आएंगे। जनमानस यह समझ नहीं पाया कि जजों को अपनी संपत्ति की घोषणा करने तथा सूचना के अधिकार के अन्तर्गत आने में क्या परेशानी है? आखिर न्यायपालिका के निर्णयों के कारण ही जन प्रतिनिधियों को अपनी सम्पत्ति घोषित करनी पड़ी तो फिर न्यायाधीशों को इससे परहेज क्यों?

न्यायपालिका में न्याय करने वाले न्यायाधीशों के पक्षपात करने तथा भाई–भतीजावाद में लिप्त होने के समाचार भारतीय लोकतंत्र में आशा की किरण के रूप में उभर रहे न्यायपालिका के भविष्य के प्रति अनेक आशंकाओं का जन्म दे रहे हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय में कार्यरत 490 जजों में 131 जजों के सगे–सम्बन्धी या तो उनके ही न्यायालय में अधिवक्ता थे, या दो जजों के पुत्र या निकट के सम्बन्धी परस्पर स्थान बदलकर अधिवक्ता का कार्य कर रहे थे। यह न्यायिक निश्पक्षता पर आसन्न संकट का सूचक है। इस सन्दर्भ में पंजाब और हरियाणा के मुख्य न्यायाधीश बी.के. रॉय ने अपने ही न्यायालय में कार्यरत 10–12 न्यायाधीशों के एक समूह को न्यायिक निर्णयों में भाई–भतीजावाद के प्रभावों को समाप्त करने के लिए मुकदमों की सुनवाई करने पर ही रोक लगा दी तो जजों का पूरा 'कुनबा' ही 'सामूहिक अवकाश' पर चला गया। यह कुनबा इतना 'प्रभावशाली' था कि बाद में बी.के. रॉय का हस्तानान्तरण कर दिया गया और उनका भाई–भतीजावाद को समाप्त करने में सहायक 'आदेश' रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया। इस संदर्भ में भारत के वर्तमान मुख्य न्यायाधीश एस.एच. कपाड़िया का यह कथन अत्यन्त प्रासंगिक है कि जनहित में न्यायाधीशों के तबादले होने चाहिए। उन्होंने सभी उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों को पत्र लिखकर कहा है कि वे अपने यहाँ कार्यरत न्यायाधीशों से पूछकर बताएं कि वे किस राज्य में हस्तानान्तरण चाहते हैं। इस निर्णय के पीछे ऐसा समझा जाता है कि कपाड़िया ने कुछ न्यायाधीशों पर लगे आरोपों को ध्यान में रखते हुए यह पत्र लिखा है।[12]

इसी क्रम में 17 सितम्बर, 2010 को पूर्व केन्द्रीय कानून मंत्री शान्तिभूषण का वक्तव्य ध्यातव्य है जो उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में दायर हलफनामें में कहा कि, देश के 16 प्रधान न्यायाधीशों में से कम से कम 8 प्रधान न्यायाधीश निश्चित रूप से भ्रष्ट थे।[13] महात्मा गाँधी ने न्यायपालिका का कार्य 'प्रदूषण मुक्त न्याय' का वितरण करना बताया था, लेकिन आज न्यायपालिका ही प्रदूषण से घिरती जा रही है।

न्याय मिलने पर देरी होने की शिकायत के बारे में अब लोगों ने कहना ही छोड़ दिया है, शायद इसे भी भ्रष्टाचार की भाँति जनस्वीकृति मिल गयी है। पिछले दिनों एक सर्वेक्षण में यह कहा गया है कि, सर्वोच्च न्यायालय में 54864, देश के उच्च न्यायालयों में 40,60709 तथा जिला एवं अधीनस्थ न्यायालयों में 27275953 मुकदमें लम्बित हैं। आंध्रप्रदेश उच्च न्यायालय के न्यायाधीश बी.बी. राव का यह कथन न्यायिक निर्णयों में विलम्ब की भयानक तस्वीर प्रस्तुत करता है जिसमें उन्होंने कहा था कि भारतीय न्यायपालिका को मुदकमों का ढ़ेर साफ करने में लगभग 320 वर्ष लगेंगे। यही नहीं भारत में उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के स्वीकृत कुल पदों (895 में से केवल 628 पर ही न्यायाधीश विराजमान हैं, 267 पद रिक्त पड़े हैं (मार्च 2010 तक), इसी प्रकार जिला एवं अधीनस्थ न्यायालयों में

कुल जजों की संख्या 16880 है और केवल 14095 जज ही कार्यरत हैं, अर्थात् 2785 पद रिक्त हैं (मार्च 2010 तक)। आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले के सिविल न्यायालय में अगस्त 2010 में एक न्यायाधीश जे.वी. वी. सत्य नारायण मूर्ति ने एक दिन में रिकार्ड 111 मामलों का निपटारा कर त्वरित न्याय प्रदान करने का एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया, लेकिन उनसे वकीलों का एक वर्ग इसलिए नाराज हो गया कि यदि वे इस प्रकार जल्दी–जल्दी मुकदमों का निपटारा करेंगे तो उनके लिए भूखों मरने जैसी स्थितियां आ जाएंगी।[14] इससे स्पष्ट है कि अधिवक्ता भी त्वरित न्याय नहीं दिलाना चाहते। यह स्थितियां न्यायपालिका के प्रति हमारी आस्था पर चोट कर रही हैं। 21वीं सदी में न्यायालयों तथा न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर यदि सर्वोच्च न्यायालय मुकद्मों के बोझ को कम कर सके तो यह उसकी बड़ी उपलब्धि होगी।

वर्तमान समय में भारत की सक्रिय न्यायपालिका से इस बात की अपेक्षा तो की ही जा सकती है कि वह जिस प्रकार कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका को 'कानून के शासन' के अन्तर्गत लाने के लिए, संविधान एवं लोकतंत्र के सम्मान के लिए और न्याय को वास्तव में जनता को सुलभ कराने के लिए उसने 'न्यायिक सक्रियता' प्रारम्भ किया है ठीक उसी प्रकार अपने ऊपर लग रहे आरोपों या अपने ही तंत्र के भीतर पैदा हो चुकी गंदगी को दूर करने हेतु और भी सक्रिय रूप से सार्थक प्रयास करने के लिए आगे आए। न्यायपालिका को समय के साथ आधुनिक तकनीक को भी न्यायिक निर्णयों में स्थान देना चाहिए, सरकार भी इस दिशा में कार्य करती दिखाई दे रही है। गत 11 सितम्बर, 2010 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की आर्थिक समिति ने देश की अदालतों को कम्प्यूटर तथा इंटरनेट से जोड़ने की ई–कोर्ट योजना की सीमा को बढ़ा दिया है, इस मद में पहले से स्वीकृत 441.8 करोड़ रुपये की योजना को बढ़ाकर 935 करोड़ रु. कर दिया गया है। इस योजना का लाभ 3069 न्यायालयों परिसरों के 14249 न्यायालयों को मिलेगा। ये सभी न्यायालय 2014 ई. तक हाइटेक हो जाएंगे। योजना को पूरी तरह लागू हो जाने के बाद लोगों को अपने मुकदमों से सम्बन्धित निर्णयों एवं मुकद्में के स्टेटस की जानकारी इंटरनेट के माध्यम से मिल जाएगी, साथ ही वीडियो कान्फ्रेंसिंग के द्वारा भी मुकदमें की सुनवाई संभव हो जाएगी। इससे मामलों को निर्णित करने सम्बन्धी न्यायिक कार्यवाहियों तथा प्रबंधन में गुणात्मक सुधार होगा।[15]

न्यायपालिका यदि 21वीं सदी में इन उपरोक्त वर्णित चुनौतियों में निपटने को तैयार रहना अपनी प्राथमिकता में शामिल कर लेती है तथा सुधारों की दिशा में प्रतिबद्ध प्रयास प्रारम्भ कर देती है तो निश्चित रूप से भारतीय लोकतंत्र जो विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है, उसे सबसे अच्छे लोकतंत्र के रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकेगा।

संदर्भ

1. एस.सी.आर., 1952, पृ. 89.
2. एस.सी.आर., 1965, पृ. 933
3. ए.आई.आर., 1967, एस.सी. पृ. 1643.
4. ए.आई.आर., 1973, एस.सी.पृ. 1461
5. ए.आई.आर., 1978, एस.सी. पृ. 597

6. ए.आई.आर, 1984, एस.सी. पृ. 177.

7. 1992, 3; एस.सी.सी., 666.

8. बख्शी उपेन्द्र, 'ऑन द शेक ऑफ नाट बीइंग ऐन ऐक्टीविस्ट – थॉट्स ऑन ज्यूडीशियल ऐक्टिविज्म', इण्डियन बार काउन्सिल, भाग–2 (3), 1984, पृ. 259.

9. दैनिक ज़ागरण (वाराणसी संस्करण), 31 अगस्त, 2010 पृ.1.

10. संचित सिंह, 'क्रिमिनलाइजेशन ऑफ पॉलिटिक्स – ए प्रोजेक्ट स्टडी' नेशनल लॉ इन्स्टिट्यूट, भोपाल।

11. डॉ. ऋतु सारस्वत, 'भावी पीढ़ी का भटकाव', दैनिक जागरण (वाराणसी) 21 अगस्त, 2010.

12. दैनिक जागरण (वाराणसी) 12 सितम्बर, 2010 पृ. 9.

13. दैनिक जागरण, (वाराणसी) 17 सितम्बर, 2010 पृ. 1.

14. दैनिक जागरण (वाराणसी) 30 अगस्त, 2010

15. अमर उजाला (नई दिल्ली) 17 सितम्बर, 2010.